शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

द्वितीय भाद्रपद : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ खास अंक

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

''ज्ञाता'' को जानना

ज्ञाता के बिना उसे जाना किसने ?

यह शरीर, मकानादि परवस्तुएँ ज्ञात होती हैं, लेकिन इन्हें जाना किसने ? वह जाननेवाला कौन है ?—उसे जाने बिना पर का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। पर ज्ञात होता है, उसका ज्ञाता मैं हूँ—इसप्रकार यदि ज्ञाता तत्त्व का निर्णय करे तो ज्ञातृत्व पर में न रुककर स्वोन्मुख हो। मैं स्वयं ज्ञाता कौन हूँ ? यह सब जो ज्ञात होता है, उसका ज्ञाता स्वयं कैसा है ?—इस प्रकार स्वतत्व का निर्णय होना चाहिये। ज्ञाता स्वयं कौन है, वह जाने बिना ज्ञातृत्व सच्चा नहीं होगा। मैं ज्ञाता हूँ—ऐसा अपने स्वभाव का निर्णय करे तो वह पर का ज्ञाता ही रहता है; पर के कर्तृत्व में या राग में नहीं रुकता, इसलिये उसका ज्ञान स्वोन्मुख होता है। जिसे ज्ञातातत्त्व की खबर नहीं है, वह पर को कभी भी विपरीतता से जानते हुए वहीं अटक जाता है; इसलिये उसका ज्ञान आत्मोन्मुख नहीं होता। इसलिये सर्व का ज्ञाता स्वयं कौन है-उसकी पहिचान प्रथम करना चाहिये। *[प्रवचन से]*

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

द्वितीय भाद्रपद : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ खास अंक

अपूर्व अहिंसा धर्म
और
आत्मा का भगवानपना

जिस अहिंसा धर्म का पालन जीव ने अनादिकाल से एक क्षण भी नहीं किया, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, वह यहाँ पूज्य गुरुदेव ने समझाया है। आत्मा में स्वयं में ही भगवान होने की शक्ति है–ऐसा आत्मा का भगवानपना स्वीकार किये बिना कभी सच्ची अहिंसा या धर्म नहीं होता।

यह समयसार की तेरहवीं गाथा पढ़ी जा रही है; उसमें सम्यग्दर्शन कैसे होता है, उसकी बात है। अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव अन्य सब तो अनन्तबार कर चुका है—व्रत, तप, त्यागादि किये और स्वर्ग में गया, किन्तु वास्तविक धर्म क्या है? वह बात पूर्वकाल में एक क्षण भी नहीं समझा। अहिंसा किसे कहा जाये? मैं पर का घात न करूँ—ऐसा जो शुभभाव है, वह तो जीव अनन्तबार कर चुका है, वह कहीं सच्ची अहिंसा नहीं है; राग से आत्मा को लाभ माना उसी में आत्मा की हिंसा है। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित अहिंसा का रहस्य तो यह है कि—ज्ञानानन्दस्वभावरूप आत्मा की रागरहित श्रद्धा, उसका ज्ञान करना और उसमें एकाग्रता करना चाहिये। ऐसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का नाम सच्ची अहिंसा है और वही धर्म है। ऐसी अहिंसा जीव ने कभी एक क्षण भी नहीं की है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ; परजीव मुझसे भिन्न है, उन परजीवों को मारना या बचाना, वह क्रिया मुझसे नहीं होती; मेरे शुभराग के कारण परजीव बच जाये—ऐसा नहीं है, परजीवों की क्रिया स्वतंत्र है; और परजीव को बचाने का जो शुभराग हुआ, उस राग से मेरा धर्म नहीं होता। मैं पर को बचा सकता हूँ या राग से मुझे लाभ होता है—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव, राग का आदर करके आत्मा के स्वभाव की हिंसा करता है। जिसने राग का आदर किया, उसने रागरहित ज्ञानानन्दस्वभाव का अनादर किया है; आत्मा के अनन्त गुणों का अनादर किया है; वही अनन्ती हिंसा है और उसका फल अनन्त संसार है।

शुभराग तो संतों-मुनियों को भी होता है, किन्तु उन्हें अन्तर में ज्ञानानन्दस्वभाव का भान है और उसमें अत्यन्त लीनता है; राग होता है, वह मेरे स्वभाव से विरुद्धभाव है। जितना राग है, उतनी हिंसा है और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के आश्रय से जितनी वीतरागदशा प्रगट हुई, उतनी अहिंसा है। मेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से भरपूर है; एक शुभराग का विकल्प उठे, वह भी मेरे अतीन्द्रिय आनन्द को रोकनेवाला है। अहो! आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद तो राग से और विषयों से पार है। इन्द्रों के वैभव में भी उस आनन्द का अंश तक नहीं है। मैं चैतन्यमूर्ति ज्ञानप्रकाश हूँ, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर हूँ—ऐसा अन्तरअनुभव होने पर अन्तर से अतीन्द्रिय आनंद के स्रोत प्रगट हों—उसका नाम सम्यग्दर्शन है, वह अहिंसा है और वही धर्म है। आत्मा में ऐसा धर्म प्रगट होने के पश्चात् देव-गुरु-धर्म का बहुमान आता है,.... सच्चे देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति और प्रेम की उमंग धर्मी को आये बिना नहीं रहती। उस भूमिका में ऐसा शुभभाव होता है, और उस समय भगवान का जिनमन्दिर, वीतराग प्रतिमा, उसकी प्रतिष्ठा, प्रभावनादि पर लक्ष जाता है। निचली दशा में देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति और बहुमान का ऐसा भाव जिसे नहीं आता, उसे तो अभी धर्म के निमित्तों का भी विवेक नहीं है। धर्मात्मा को ऐसा शुभभाव आता है और उसके निमित्तों पर लक्ष जाता है, किन्तु उसकी दृष्टि में से राग का अवलम्बन छूट गया है। राग के अवलम्बन से जो लाभ मानता है, वह महान हिंसा का सेवन करता है।

भगवान! यह तेरे आत्मा के स्वभाव की बात है। तेरा ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा रागरहित है; उसे राग के अवलम्बन से लाभ नहीं है। देखो, आत्मा को 'भगवान' कहकर सम्बोधन करके आचार्यदेव समझाते हैं। ७२ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा तो सदैव अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है; इसलिये वह अत्यन्त शुचि है—पवित्र

है—उज्ज्वल है। किन्तु अनेक अज्ञानियों को आत्मा की ऐसी बात नहीं जमती; आत्मा को भगवान कहा, यह बात भी उन्हें अच्छी नहीं लगती। किन्तु भाई! जो भगवान हुए हैं, वे सब कहाँ से हुए? आत्मा में भगवान होने की शक्ति थी, उसी में से भगवानपना व्यक्त हुआ है। यदि आत्मा में ही भगवान होने की शक्ति न हो तो बाहर से कहाँ से आयेगी? इसलिये भगवान होने की शक्ति है—उसका विश्वास करो, बहुमान करो। देखो, एकबार श्रीमद् राजचन्द्र जंगल में जा रहे थे, वहाँ उनकी मुद्रा देखकर कुछ गड़रिये जिज्ञासा से उनकी ओर देखते ही रह गये। काफी देर बाद जब वे वापिस लौटे, उस समय भी वे गड़रिये वहाँ जिज्ञासापूर्वक खड़े थे। उनकी अनुकरणवृत्ति देखकर श्रीमद् को ऐसा विचार आया कि इनके कानों में कुछ उत्कृष्ट वचन डालना चाहिये। उन्होंने कहा—भाईयो! तुम आँखें मींच लो और अन्तर में अपने आत्मा का ऐसा चिंतवन करो कि "मैं परमेश्वर हूँ।" उन गड़रियों ने तुरन्त आँखें मींच लीं और उनका अनुसरण किया। देखो, इन्कार नहीं किया, किन्तु अनुकरण किया, क्योंकि उनमें पात्रता थी। आत्मा को भगवान कहने की बात सुनना भी जिन्हें पसन्द नहीं हैं, वे अन्तर में आत्मा के स्वभाव का अनुभव कहाँ से करेंगे? आचार्यदेव और सन्त कहते हैं कि अरे जीवो! तुम विकार जितने पामर नहीं हो, तुम भगवान हो; तुम्हारे आत्मा में ही भगवान होने की शक्ति भरी है, उसकी पहिचान करो—दृष्टि करो। संयोग पर हैं, वे पृथक् हैं; पुण्य-पाप विकार है, वह मेरे सवभाव से विपरीत है, और मेरा ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव में भगवान होने का सामर्थ्य है।—इस प्रकार (१) संयोगों की पृथकता, (२) विभावों की विपरीतता, और (३) स्वभाव का सामर्थ्य—इन तीनों को पहिचानकर भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव को दृष्टि करना, वह अपूर्व धर्म है। भगवान आत्मा का अवलम्बन ही सम्यग्दर्शन का कारण है; इसके सिवा रागादि कोई भाव सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है, और राग हो, वह आत्मा के धर्म का कारण नहीं है।—इस प्रकार रागादिक आस्रवों को और भगवान आत्मा के स्वभाव का भिन्नत्व है।—यह बात समझाते हुए ७२ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—

ज्ञात्वा आस्त्रवाणामशुचित्वं च विपरीत भावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

—इस गाथा की टीका में आचार्यदेव ने आत्मा को तीनबार भगवान कहा है। भगवान आत्मा पवित्र है; भगवान आत्मा चेतक है; भगवान आत्मा दुःख का अकारण है। ऐसे भगवान आत्मा की पहिचान जीव ने कभी नहीं की। अरे, पहले यह बात सुनकर उसका पक्ष तो लो; जो

सत्य का पक्ष भी नहीं लेते, वे उसका लक्ष करके अनुभव कब करेंगे ? यह किसकी बात है ? जो भगवान हो गये हैं, उनकी यह बात नहीं है, किन्तु प्रत्येक आत्मा में भगवान होने की शक्ति है, उसकी यह बात है। पहली ही गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ और तुम भी सिद्ध हो;—इस प्रकार आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके मैं यह बात कहता हूँ; तो हे श्रोताजनों ! तुम भी अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके,—यानी आत्मा का स्वभाव भी सिद्ध समान है—ऐसा अन्तर्लक्ष करके यह बात स्वीकार करना। देखो, यह नवतत्त्वों में जीवतत्त्व की पहिचान ! यह बात सुनने में सरलता होना चाहिये; मध्यस्थता होना चाहिये; सत्य क्या है, उसे समझकर मुझे अपने आत्मा का हित करना है—ऐसी सरलता और जितेन्द्रियपना होना चाहिये, अर्थात् आत्मा के स्वभाव के सिवा इन्द्रियविषयों में मेरा सुख नहीं है—ऐसा लक्ष होने से विषयों की तीव्र लोलुपता नहीं रहती और विशालबुद्धि—अर्थात् आत्मा का स्वभाव जैसा ज्ञानी बतलाते हैं, वैसा समझने जितनी ज्ञान में विशालता होना चाहिये।—ऐसी पात्रता के बिना सत् समझ में नहीं आता।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो ! भूतार्थदृष्टि से देखने पर नवों तत्त्वों में एक भगवान आत्मा ही प्रकाशमान है। राग के समय ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव की ही अधिकता को देखते हैं; उन्हें ज्ञानस्वभाव की दृष्टि छूटती नहीं है।—इस प्रकार ज्ञानी स्व-परप्रकाशक ज्ञान में नवोंतत्त्वों को जानते हैं, किन्तु उसमें कहीं रागादि की अधिकता नहीं होती—अपने स्वभाव की ही अधिकता वर्तती है; इसलिये ज्ञानी को नवों तत्त्वों का ज्ञान करते हुए एक भगवान आत्मा ही प्रकाशन है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशकसामर्थ्य विकसित हुआ, उसमें नवों तत्त्वों को जानने पर भी ज्ञानी को एक चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन मुख्य वर्तता है। ऐसी स्व-परप्रकाशक चैतन्यसत्ता की सँभाल जीव ने पूर्वकाल में कभी नहीं की। व्रत-तप का पालन किया, साधु और आचार्य नाम धारण किया, किन्तु अन्तर में 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसी पहिचान नहीं की, उसकी रुचि नहीं की, इसलिये संसार में ही भटकता रहा। अरे भाई ! यह तेरी बात है; प्रभु ! सुन तो सही; धीर होकर अन्तर में विचार तो कर कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? यह बात समझे बिना तेरे भव-भ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। देखो, ज्ञानियों का खेल भी अलग प्रकार का होता है। श्री रामचन्द्रजी को उसी भव में मोक्ष जाना है। जब वे छोटे बालक थे, तब एकबार खेल-खेल में ऐसा विचार आया कि ऊपर सोलह कलाओंवाला चंद्र प्रकाशमान है, उसे उतारकर जेब में रख लूँ। मंत्रीजी उनका विचार समझ

गये, इसलिये हाथ में दर्पण देकर उसमें चन्द्रमा बतलाया। चन्द्र देखकर रामचन्द्रजी ने उसे जीव में रख लिया। उसी प्रकार ऊपर लोकाग्र में अशरीरी सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं; धर्मी को सिद्ध होना है; इसलिये कहते हैं कि—मैं अपने आत्मा में सिद्ध भगवन्तों की स्थापना करता हूँ। सिद्ध भगवन्त ऊपर से नीचे नहीं आ सकते, किन्तु सिद्ध भगवान जैसे अपने आत्मा को दृष्टि में लेकर स्वयं अपने आत्मा की सिद्धदशा की साधना करते हैं और अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को लक्ष में लेकर उसका बहुमान और रागरहित अनुभव करना, वह मोक्ष का कारण है।

(—सुरेन्द्रनगर में वेदीप्रतिष्ठा के प्रसंग पर वैशाख शुक्ला ३ को पूज्य गुरुदेव का प्रवचन)

जीव का कार्यक्षेत्र कितना ?

हे जीवों! आत्मा उपयोगस्वरूप है; अपने उपयोग के सिवा पर की क्रिया कोई आत्मा तीनकाल में नहीं कर सकता। भाई! जड़ की और पर की क्रिया करने के अभिमान में तेरा आत्मा रुक गया है किन्तु वह पर की क्रिया तेरे हाथ में नहीं है। तेरा ज्ञानानंदस्वरूप पर से भिन्न है, उसकी पहिचान कर; उसकी पहिचान बिना अन्य किसी प्रकार से भव का अंत नहीं आ सकता।

यह सम्यग्दर्शन का अधिकार चल रहा है। मैं देह-मन-वाणी से पार शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ—ऐसा आत्मा का सम्यक् भान जीव ने पूर्वकाल में एक क्षण भी नहीं किया है और रागादिक तथा देहादिक की क्रिया का अभिमान करके चार गतियों में भटका है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; वह जड़ से पृथक् है। आत्मा अपने शुद्ध या अशुद्ध भावों के सिवा अन्य कुछ भी बाह्य में नहीं कर सकता। जीव या तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का भान करके शुद्ध उपयोगरूप निर्मल भावों को करता है, या फिर ज्ञानानन्दस्वरूप को भूलकर अज्ञानभाव से रागादिभावों का कर्ता होता है, किन्तु

शरीरादिक जड़ की क्रिया तो कोई जीव कर ही नहीं सकता। जीव पर को बचा नहीं सकता—यह बात ठीक है, किन्तु उसका यह मतलब नहीं कि पर को बचाने का भाव पाप है! परजीव को बचाने का भाव शुभभाव है; वह न तो धर्म है और न वह पाप भी है, किन्तु वह पुण्य है। और, परजीव को मैं बचा सकता हूँ—ऐसी विपरीत मान्यता, वह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व महान पाप है। भूखे पशु को घास-पानी देने का भाव या जलते हुए ढोर को बचा लेने का भाव,—इसे कोई पाप मनाये तो उसकी बात झूठी है। यहाँ भाव की बात है; बाह्य क्रिया का होना या न होना, वह इस आत्मा के आधीन नहीं है। परजीव बचे या न बचे, वह तो उसकी आयु के अनुसार है; किन्तु मैं पर को बचा लूँ—ऐसी जो वृत्ति होती है, वह पुण्य है—पाप नहीं है, और न धर्म है। जीव क्या, जड़ क्या, पाप क्या, पुण्य क्या, और धर्म क्या?—इन सर्व तत्त्वों को ज्यों का त्यों जानना चाहिये।

परजीव को सुख हो या दुःख हो, वह जिये या मर जाये—उसका पुण्य-पाप इस जीव को नहीं है; किन्तु मैं पर को सुखी करूँ, दुखी करूँ; जीव को बचाऊँ या मार डालूँ;—ऐसा जो शुभ-अशुभभाव जीव करता है, उसका पुण्य या पाप उसे होता है, अभी धर्म तो अलग वस्तु है। प्रभो! अपने चैतन्यतत्त्व के ज्ञान बिना धर्म नहीं होता। भाई! जड़ की और पर की क्रिया करने के अभिमान में तेरा आत्मा रुक गया है; किन्तु वह पर की क्रिया तेरे हाथ में नहीं है। तेरा ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा पर से भिन्न क्या वस्तु है, उसकी पहिचान कर, वह अपूर्व धर्म है।

केवली भगवान सर्वज्ञ परमात्मा का जीवन वीतरागी हो गया है; उन्हें परोपकारादि की शुभवृत्ति भी नहीं उठती। इच्छा के बिना सहजरूप से दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश निकलता है। उसमें भगवान ने ऐसा कहा कि हे जीवो! आत्मा उपयोगस्वरूप है; अपने उपयोग के सिवा पर की क्रिया कोई आत्मा तीनकाल में नहीं कर सकता। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव, पर में एक रजकण का भी फेरफार नहीं कर सकता। जड़ की क्रिया स्वतंत्र है; उसका कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर पर का मैं करता हूँ—ऐसी विपरीत मान्यता करके अज्ञानभाव से शुभाशुभउपयोगरूप परिणमित हो, वह संसार का कारण है; और पर से भिन्न—राग से भिन्न अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का सम्यक् भान करके अन्तर्मुख शुद्ध उपयोगरूप से परिणमित हो, वह धर्म है और वही मोक्ष का कारण है।

धर्मी जीव को अन्तर्दृष्टि में शुद्धनय से एक भगवान आत्मा ही प्रकाशित होता है। नवतत्त्वों को जानने से धर्मी को अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की ही अधिकता वर्तती है; इसलिये नवों तत्त्वों

में धर्मी को एक अपना आत्मा ही भूतार्थस्वभावरूप से प्रकाशमान है। स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान की स्वच्छता में नवों तत्त्व ज्ञात होते हैं, किन्तु नवतत्त्वों को जानने से धर्मी का ज्ञान पर में या विकार में एकत्व को प्राप्त नहीं होता; एकाकार चिदानन्दस्वभाव की एकतारूप से ही धर्मी का ज्ञान वर्तता है; इस प्रकार धर्मी की दृष्टि में एक शुद्ध आत्मा ही प्रकाशमान है।

पर को जानते हुए आत्मा का ज्ञान उसी में रुक जाये और अपने भिन्न ज्ञानस्वभाव को भूल जाये—वह मिथ्या ज्ञान है, तथा वह संसार-भ्रमण का कारण है। ज्ञान अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर उसमें एकता करे—वह मोक्ष का कारण है। उसमें चैतन्य की शांति का वेदन है। फिर वह ज्ञान पुण्य-पापादि को जाने, तो भी उनमें एकत्व को प्राप्त नहीं होता। अहो, भगवान के समवशरण में मेंढक और चिड़ियाँ भी अन्तरस्वभावोन्मुख होकर ऐसा आत्मभान प्राप्त कर लेते थे। यह तो अंतरंग रुचि का विषय है। अंतर की रुचि करके स्वभाव को ग्रहण करने का प्रयत्न पूर्वकाल में कभी नहीं किया है; और ऐसे स्वभाव के अन्तर्भान बिना दूसरा चाहे जितना करे, तथापि भव का अन्त नहीं आ सकता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव क्या है, उसके सम्यक्भान बिना वास्तव में जैनत्व नहीं होता। जैन अर्थात् जीतनेवाला। किसे जीतना है?—किसी पर को नहीं जीतना है, किन्तु "शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और पुण्य-पाप जितना मैं हूँ"—ऐसी जो अनादि कालीन मिथ्याबुद्धि है, उसे आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की यथार्थ पहिचान द्वारा जीतना, अर्थात् सम्यक्भान द्वारा अनादि के मिथ्यात्व का नाश करने का नाम जैनत्व है। श्रावकत्व और मुनित्व तो इससे बड़ी उच्च अलौकिक आत्मदशा है। आत्मा का सम्यक्भान होने से भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई, अन्तर के चैतनयनिधान देख लिये—इसका नाम सम्यग्दर्शन है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।●●

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

❀ 'प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है ?'—ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है।

❀ उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।' ऐसे आत्मद्रव्य का यह वर्णन चल रहा है।

[३०] कालनय से आत्मा का वर्णन

आत्मद्रव्य कालनय से, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,—ग्रीष्म ऋतु के दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। आत्मा की मुक्ति जिस समय होना है, उसी समय होती है-ऐसा कालनय से ज्ञातव्य आत्मा का एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है, उसकाल भी वह पुरुषार्थपूर्वक ही होती है; किन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके 'स्वकाल से मुक्ति हुई'—ऐसा कालनय से कहा जाता है। स्वकाल से मुक्ति हुई; इसलिये पुरुषार्थ उड़ जाता है—ऐसा नहीं है; स्वकाल से मुक्ति हुई, उसमें भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है, उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँ से होती है ?—द्रव्य में से होती है, इसलिये ऐसा निर्णय करनेवाले का लक्ष अकेली मुक्ति की पर्याय पर नहीं रहता किन्तु पर्याय के आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; ''जिस काल मुक्ति होना हो, उस काल होती है''—ऐसा धर्म तो आत्मद्रव्य का है; इसलिये आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है, वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है; इसलिये इस निर्णय में मुक्ति का पुरुषार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्ति

पर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव में द्रव्य की ओर देखता है; क्योंकि ''जिसकी सिद्धि समय पर आधारित है''—ऐसा धर्म, द्रव्य का है; द्रव्य की ओर देखा, वही अपूर्व पुरुषार्थ है। द्रव्य की ओर देखनेवाले ने निमित्त, विकार या पर्याय पर से दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; ऐसी द्रव्यदृष्टि में ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वकाल का निर्णय, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, केवली का निर्णय—इत्यादि सबकुछ आ जाता है। कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करना। यह धर्म कहीं काल के आधार से नहीं है किन्तु आत्मा के आधार से है, इसलिये मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नहीं किन्तु आत्मा की ओर देखता है।

केवली भगवान के केवलज्ञान में जो काल देखा, उसकाल ही मुक्ति होती है, मुक्ति का काल बदल नहीं सकता—ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है; आत्मा के इस धर्म का निर्णय कहीं पर सन्मुख देखने से नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य के समक्ष देखने से ही उसके धर्म का निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है ?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है, ऐसे आत्मद्रव्य को ही देखता है; इसलिये जो जीव अंतर्मुख होकर आत्मद्रव्य को देखता है, उसी ने कालनय को सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्ति का काल अल्पकाल में ही होना होता है।

देखो, यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नहीं करना है किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है; इसलिये धर्म देखनेवाले को स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्म का निर्णय करने में अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लेना ही इस सब का तात्पर्य है। जो जीव संपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेता नहीं है और एक-एक धर्म को पृथक् करके देखता है, उसके सर्व नय मिथ्या हैं। प्रमाणज्ञान से अनन्त धर्मात्मक अखण्ड आत्मा को स्वीकार किये बिना उसके एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं होता, अर्थात् नय नहीं होता।

कालनय कहता है कि आत्मा में जिस समय सम्यग्दर्शन होना है, उसी समय होगा, किन्तु वह किसे लगा है ?—जिसने द्रव्यसन्मुख दृष्टि की उसे! इसलिये जिसे यह बात जम गई, उसे तो सम्यग्दर्शन का काल आ ही गया है। आत्मा का जो धर्म है, वह क्षणिक पर्याय के आधार से नहीं है किन्तु द्रव्य के आधार से है। पर्याय तो प्रति समय चली ही जाती है; एक गुण की अनेक पर्यायें तो एक समय में होती नहीं हैं, और द्रव्य तो सदैव एकरूप है; इसलिये उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्याय के काल का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय का काल व्यवस्थित है। जिस पर्याय को जो काल है, उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यदि उसमें फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा, केवलज्ञान को भी अव्यवस्थित मानना होगा, अतः त्रिकालवर्ती पर्यायों के पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समय की पर्यायें व्यवस्थित है—ऐसा निश्चय करने में सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है; क्योंकि पर्याय का निर्णय करनेवाले का मुख आत्मद्रव्य पर है, उसकी दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है; द्रव्यसन्मुख दृष्टि में उसे पर्याय की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मलपरिणमन हो जाता है और अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्यायें अव्यवस्थित माननेवाला निःशंक हो ही नहीं सकता और व्यवस्थित का सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नहीं होता।

अहो! वीतरागी संत चाहे जिस पक्ष से बात समझायें, किन्तु उसमें वस्तु का मूलस्वभाव ही बतलाना चाहते हैं।

❀ ❀ ❀

जो मुक्ति का काल है, उसी काल में मुक्ति होती है—ऐसा कालनय से आत्मा का स्वभाव है। अब, आत्मा की मुक्ति के समय का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही अल्पकाल में मुक्ति हो—ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञभगवान ने देखा है, तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है; किन्तु उस धर्म का निर्णय कब होता है? वह धर्म पर के आश्रय नहीं है किन्तु आत्मा के आश्रय से ही है; इसलिये जब सम्पूर्ण आत्मा को दृष्टि में ले ले, तब उसके इस धर्म का निर्णय होगा। और जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया, उसके अल्पकाल में ही मुक्ति का स्वकाल अवश्य होता है। यह कालनय भी कहीं पुरुषार्थ उड़ाने के लिये नहीं है, किन्तु उसमें वीतरागी ज्ञातादृष्टापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, वह मोक्ष का कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे, उसी को यह नय यथार्थरूप से जमता है; अन्य किसी को यह नय नहीं जमता।

शंका:—कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है, इसलिये अब हमें क्या? हमें तो काल की ओर देखकर बैठना ही रहा?

समाधान:—ऐसा नहीं है; सुन भाई! कालनय से जिसकी सिद्ध समय पर आधार रखती है—ऐसा कौन है!—आत्मद्रव्य! तो यह धर्म माननेवाले को काल सन्मुख देखना नहीं रहा। किन्तु आत्मा की ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गई, वहाँ स्वकाल अल्प समय में पकना ही

होता है। यहाँ दृष्टान्त में भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्म ऋतु आने पर पक जाता है; उसी प्रकार सिद्धान्त में ऐसा आत्मा लेना चाहिये कि स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव की ओर के सम्यक् पुरुषार्थ से जिसको मुक्ति का काल पक जाता है। सर्वज्ञदेव ने तो मुक्ति का जो समय है, वह देखा है, किन्तु 'मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वभाव है'—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे बंधन, संसार या राग की रुचि नहीं रहती; किन्तु जिसमें से मुक्तदशा आना है—ऐसे स्वद्रव्य की ओर वह देखता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति का स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है, उसे वास्तव में मुक्ति का निर्णय नहीं है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला आत्मा को देखता है, क्योंकि मुक्ति किसी निमित्त के, राग के या पर्याय के आश्रित नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य के आश्रित है; इसलिये वह आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञातादृष्टा रहता है; उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य या उतावली नहीं होती, ज्ञातादृष्टारूप से वर्तते हुए अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होने का निर्णय किया कि स्वकाल में मुक्ति-पर्याय होने का धर्म मेरे आत्मा में है, उसने राग में एकाग्र होकर वह निर्णय नहीं किया है; किन्तु ज्ञाताद्रव्य में ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके वह निर्णय किया है; इसलिये वर्तमान में वह साधक तो हुआ है; अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मैं शीघ्र मुक्ति करूँ और संसार को टालूँ'—ऐसी पर्यायदृष्टि उसके नहीं है, अब स्वभाव में एकाग्र होने से अल्पकाल में उसकी मुक्तदशा हो जायेगी।

मैं खूब शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ; दया, कठिन व्रत-तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ;—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे, उसमें तो विषमता है; ऐसी विषमता से मुक्ति नहीं होती, किन्तु मैं तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने से मुक्ति हो जाती है। ज्ञातादृष्टा स्वभाव में रहने से जिस समय मुक्ति होना है, उस समय हो जाती है; उसे मुक्ति का समय आने में दीर्घकाल नहीं होता। अरे! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योंकि अवस्था ही वस्तु की व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना है, वह उपाय तो करता नहीं है, फिर मोक्ष कहाँ से होगा? स्वद्रव्य की दृष्टि करने से मोक्ष अल्पकाल में हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर दृष्टि नहीं रहती। स्वभाव का अवलम्बन रखकर ज्ञातादृष्टा हुआ, उसमें पर्याय की उतावली करना रहता ही कहाँ है? क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी पर्याय का विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होने में उसे अधिक काल नहीं लगेगा।

देखो, यह कालनय का रहस्य! जिसने इस कालनय से भी आत्मा का निर्णय किया, उसके ज्ञान में ज्ञातादृष्टापने का धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्य में अल्पकाल में मुक्ति होने का स्वकाल है ही; केवलीभगवान ने भी अल्पकाल में उसका मोक्ष देखा है। कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा, उसमें पुरुषार्थ की निर्बलता नहीं है किन्तु स्वभावदृष्टि का बल है; इसका निर्णय करनेवाला जीव, द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्ध-मोक्ष का भी ज्ञाता रह जाता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवान के ज्ञान में उसकी मुक्ति के प्रमाण अंकित हो गये हैं, और उस आत्मा के स्वभाव में भी वैसा धर्म है। अहो! इसमें मोक्ष का पुरुषार्थ है किन्तु आकुलता नहीं है—ज्ञातादृष्टापने का धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञातादृष्टापना नहीं रहा किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ; वह तो मोक्ष को रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि—जितनी उतावली उतनी कचास, और जितनी कचास उतनी खटास। स्वभावदृष्टि में धर्मी को प्रमाद भी नहीं है; उतावली भी नहीं है, और न पुरुषार्थ की कचास भी है; स्वभावदृष्टि में ज्ञातादृष्टारूप से मोक्ष का प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्पकाल में मोक्षदशा हो जाती है।

देखो, आचार्यदेव ने कालनय को गुप्त नहीं रखा; कालनय के वर्णन में भी शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय का ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पना से विपरीत अर्थ करते हैं।

धर्मी कहते हैं कि—''भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो''—लेकिन वह किसकी दृष्टि में? ध्रुवस्वभाव की दृष्टि में; स्वभावदृष्टि में बंध-मोक्षपर्याय पर धर्मी को समभाव है, अथवा बन्ध टालूँ और मोक्ष करूँ—इस प्रकार पर्याय की विषमता पर उसकी दृष्टि नहीं है किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है, उस स्वभाव की दृष्टि में अल्पकाल में भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

यह विकार मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है, उसका विकार दूर नहीं होता। मुझे विकार नहीं चाहिये—इस प्रकार जो विकार को टालना चाहता है, उसकी दृष्टि विकार सन्मुख नहीं होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है; शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है, इसलिये उस स्वभाव की दृष्टि से विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा में मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है, उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है;—ऐसा जिसने कालनय से जान लिया, उस जीव की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य

पर ही पड़ी है और उस द्रव्य के आश्रय से अल्पकाल में अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वें कालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[३१] अकालनय से आत्मा का वर्णन

'अकालनय से आत्मद्रव्य जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, ऐसा है,—कृत्रिम गरमी से पकाये जानेवाले आम्रफल की तरह।'

जिसे स्वभावदृष्टि है, वह जीव अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभाव में एकाग्र होकर अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीव ने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि स्वभाव के अवलम्बन से तू अचिरं अर्थात् शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करेगा। अकालनय से ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मोक्ष का जो समय है, वह बदल जाता है। जैसे घास में रखकर आम को पकायें, वहाँ भी वह आम तो उसके पकने के काल में ही पका है, लेकिन घास में रखा था, उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घास में रखकर जल्दी पका दिया। वैसे अल्प समय में उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह अकालनय का कथन है और वैसा एक धर्म आत्मा में है। मुक्ति तो उसका जो समय था, उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदला नहीं गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तु में है। शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहे कि हे नाथ! हे स्वामी! आपने मुझे इस संसार से तार दिया... यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसार में भटकते-भटकते मर जाते, आपके चरणकमलों के प्रसाद से शीघ्र हमारे संसार का अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे। आपके उपकार से हमारा अनंत संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकालनय से कहा जाता है, मोक्ष होने का काल तो जो है, वही है; वह कहीं उलटपुलट नहीं हो गया है।

आत्मा कैसा है—ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा की पहिचान कराते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से ४७ धर्मों का कथन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। उनमें कालनय से ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्ति का स्वकाल है, तभी वह मुक्ति को प्राप्त

करता है। जैसे आम उसके मौसम में पकता है, वैसे आत्मा के स्वभाव में मुक्ति का जो समय है, उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो, वहाँ आत्मा की मुक्ति होती है। वहाँ आत्मा की अपने काल से मुक्ति हुई—ऐसा कालनय से कहा जाता है। लेकिन वह मुक्ति बिना पुरुषार्थ के नहीं हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा अकालनय से कहा जाता है, उसमें भी मुक्ति का जो समय है, वह तो वही है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव ने बहुत काल के कर्मों को अल्पकाल में नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्ष में लेना, वह अकालनय है।

यह जो धर्म कहे जा रहे हैं, वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तु के आधार से हैं; किसी निमित्त के आधार से, राग के आधार से, अकेली पर्याय के आधार से अथवा एक-एक धर्म के आधार से यह धर्म विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् इन धर्मों का निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्ष में आ जाता है। संपूर्ण वस्तुस्वभाव को दृष्टि में लिये बिना उसके धर्म का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आत्मद्रव्य की सन्मुखता से ही उसके धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो, उसे अचिरं (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नहीं रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प वगैरह के काटन से छोटी उम्र में कोई मनुष्य मर जाये तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्य की अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थतः तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी, उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नहीं हुई है, लेकिन लोक-व्यवहार से अकाल में अवसान हुआ—ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। जो जीव वस्तुस्वभाव से विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है, वह जीव प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है, वैसे ही स्वभावदृष्टि के बल से सम्यक्त्वी जीव संसार को एक क्षण में नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा अकालनय से कहा जाता है। पहले स्वभाव पर दृष्टि नहीं थी और संसार पर दृष्टि थी, तब प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है—ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागम से विपरीत दृष्टि को बदलकर स्वभावदृष्टि की, वहाँ एक क्षण में अनन्त संसार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। परन्तु संसार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नहीं होना था और हो गया—ऐसा अकालनय का अर्थ नहीं है। अकालनय से पर्याय का

क्रम बदल जाये-ऐसा नहीं है, लेकिन अनन्तकाल के कर्म अल्पकाल में नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। छद्मस्थ के ज्ञान में यह नय होते हैं, केवलीभगवान के ज्ञान में नय नहीं होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनय से पृथक्-पृथक् दो धर्म कहे हैं, वे दोनों धर्म अलग-अलग जीव में नहीं हैं परन्तु एक ही जीव में दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं; इसी तरह नियत अनियत वगैरह नयों से जो धर्म कहे हैं, वे भी प्रत्येक आत्मा में एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नहीं। अर्थात् एक धर्म एक जीव में और दूसरा धर्म दूसरे जीव में हो, ऐसा नहीं, एक ही जीव में समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है, उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमें अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नहीं है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना, वह कालनय का कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी, बिना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नहीं है, स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना, वह अकालनय का कथन है। परन्तु पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा जब अकालनय से कहा, तब भी मुक्ति का स्वकाल नहीं था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नहीं, पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय, यह दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है, उन सभी धर्मों का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना, वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

—यहाँ ३१ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

स्वरूप की प्राप्ति सरल है, पर को अपना बनाना अशक्य है

इस देहमन्दिर में रहनेवाला चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा क्या वस्तु है—यह बात जीव ने कभी नहीं जानी, और उसे जाने बिना चार गति के अवतार किये हैं। अपने स्वरूप का विस्मरण करके पर को ही जानने में काल गँवाया है, किन्तु परवस्तु अपनी नहीं हो सकती। शरीरादिक परवस्तुएँ हैं, उनसे कदापि आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति में से भी चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति होना असम्भव है। चिदानन्दस्वरूप त्रिकाल परिपूर्ण सामर्थ्य से भरपूर है; उसी के अवलम्बन से प्राप्त की प्राप्ति होती है।—इस अपेक्षा से चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति सुगम है और पर को प्राप्त करना तो अशक्य है।—ऐसा यथार्थ ज्ञान जीव ने पहले कभी नहीं किया और परवस्तु को अपना बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु एक रजकण को भी अपना नहीं बना सका। अंतर में अपनी वस्तु है, उस पर दृष्टि डाले तो निहाल हो जाये। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं; उसी प्रकार आत्मा में भी तरंगें उठती हैं, किन्तु अनादिकाल से चैतन्यस्वरूप को भूलकर जो पुण्य-पाप विकार है, सो ही मैं हूँ—ऐसा मानकर क्षणिक विकार की ही तरंगें उत्पन्न की हैं; किन्तु 'मैं पुण्य-पाप से पार ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ'—ऐसी सम्यग्ज्ञान की तरंगें कभी प्रगट नहीं कीं। यदि चैतन्यस्वरूप को जानकर एकबार भी सम्यग्ज्ञानरूपी तरंग प्रगट करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

जीव ने अपने चैतन्यस्वरूप को जानने का उद्यम नहीं किया और बाह्य में परवस्तु को अपना मानकर उसमें उथलपुथल करने का अभिमान किया है। जिस प्रकार साँड़ अपने सींगों द्वारा घूरे को फैलाकर उसमें अपना बल मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव, परवस्तु का अभिमान करके उसमें अपना बल मानता है और पर के लिये प्रयत्न करके शुभ-अशुभ वृत्तियाँ करता है, वह विकारी तरंग है। अनादि से पर का अभिमान किया है किन्तु परवस्तु के एक रजकण को भी अपना नहीं बना सका। अपने स्वभाव की प्राप्ति का उद्यम करे तो क्षण में उसकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु परवस्तु कभी अपनी नहीं हो सकती। जिसप्रकार लैंडी पीपर में चौंसठ पुटी चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव भरा है, इसलिये वह प्रगट हो सकती है, किन्तु उसमें से मिश्री नहीं निकल सकती, क्योंकि उसमें वैसा स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में सर्व को जानने-

देखने का परिपूर्ण स्वभाव भरा है, इसलिये उसमें से सबको जानने-देखनेवाली सर्वज्ञता और सर्वदर्शता प्रगट हो सकती है; किन्तु शरीरादिक परवस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं। उन शरीरादिक के संयोग को आत्मा अपना नहीं बना सकता। भूतकाल में अमुक शरीरादि का संयोग प्रवर्तमान था, उन शरीरादिक का इस समय ज्ञान हो सकता है, किन्तु उनका संयोग इस समय जीव प्राप्त नहीं कर सकता। उस प्रकार वर्तमान में शरीर-इन्द्रियादि निस्तेज हो जायें, तो उन्हें ज्ञान जानता है, किन्तु उनकी अवस्था को नहीं रोक सकता। इस प्रकार आत्मा का स्वभावधर्म सबके जानने-देखने का ही है, किन्तु पर को अपना बना ले, अपने अधिकार में रख सके, या स्वयं पर का हो जाये—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पदार्थों की त्रिकाली अवस्था को जानने की शक्ति है—ऐसा ज्ञानानन्द स्वभाव के सन्मुख होकर, उसकी प्रतीति और अनुभव करने से आत्मा में अपूर्व ज्ञान-आनंद की तरंगें उठती हैं, उसका नाम धर्म है।

जगत की कोई परवस्तु मेरी नहीं है और न मैं जगत में किसी का हूँ; क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति जितना भी मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ; तीनकाल को जाननेवाला परिपूर्ण सामर्थ्य मुझ में से ही प्रगट होता है। वर्तमान में प्रगट ज्ञान अल्प होने पर भी भीतर परिपूर्ण ज्ञानशक्ति विद्यमान है। यदि वह परिपूर्ण ज्ञानशक्ति न भरी हो तो यह अल्प ज्ञान भी कहाँ से आता? अल्पज्ञान व्यक्त है, इसलिये अनुमान से निर्णय हो सकता है कि इस वस्तु में पूर्ण जानने का ज्ञानस्वभाव भरा है। जड़ में जानने का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह बिलकुल नहीं जानता। जिसमें जो स्वभाव हो, वह परिपूर्ण ही होता है—अपूर्ण नहीं होता। लैंडी पीपर में थोड़ी-सी चरपराहट प्रगट हुई हो, किन्तु वहाँ निर्णय हो जाता है कि इस वस्तु में परिपूर्ण चरपराहट का स्वभाव भरा है, उसी में से यह थोड़ी-सी प्रगट हुई है। चूहे की लैंडी को चाहे जितना घिसें तो किंचित् चरपराहट प्रगट नहीं होती, क्योंकि उसमें चरपराहट का स्वभाव ही नहीं है। जिसमें जो स्वभाव भरा हो, उसमें से उसकी प्राप्ति होती है। भाई! तेरे आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, उसमें से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सकती हे, इसलिये उसकी प्रतीति कर और परवस्तु तेरी नहीं है, इसलिये उसका अहंकार छोड़ दे। वर्तमान में मेरे ज्ञान का अल्प विकास है, किन्तु मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञान की शक्ति रखता है। मैं अल्पज्ञान जितना ही नहीं हूँ, किन्तु परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव की शक्तिवाला हूँ। पूर्वकाल में तीव्र विकारभाव किये हों तो वे वर्तमान ज्ञान में याद आते हैं; किन्तु इनका ज्ञान करने से वे वर्तमान में ज्ञान के साथ एकमेक नहीं हो जाते; इसलिये वह विकार अपना स्वभाव नहीं है, किन्तु विकार को जानने का अपना स्वभाव है।

त्रिकाल का ज्ञान कर लेने के सामर्थ्यवाला अपना स्वभाव है; उस स्वभाव को जानकर उसे प्राप्त कर लेना सरल है, क्योंकि सम्यक् प्रयत्न से अल्पकाल में उसकी प्राप्ति हो सकती है। और परवस्तु अनंतकाल में भी अपनी नहीं हो सकती, उसे अपना बनाने का उद्यम ही व्यर्थ है। चैतन्यस्वभाव का प्राप्ति का उद्यम करे और उसकी प्राप्ति न हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिये स्वरूप की प्राप्ति सरल है। ऐसे स्वरूप की रुचि होना और पर का अहंकार तथा पुण्य-पाप की रुचि छूटना, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

भाई! तू विचार तो कर कि तेरा स्वरूप क्या है? इस जगत में तुझसे कौन सा कार्य हो सकता है और कौन-सा नहीं हो सकता? भाई, तू तो ज्ञान है; ज्ञान के सिवा परवस्तु तेरी नहीं है और न उस परवस्तु का तू कुछ कर सकता है। तेरा ज्ञानस्वरूप है, उसकी तू प्रतीति कर। अज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर "पर मेरे"—ऐसा व्यर्थ का अभिमान करता है। जैसे:—एक पागल आदमी नदी किनारे बैठा था; वहाँ राजा का लश्कर आया और पड़ाव डाल दिया। पागल आदमी उसे देखकर कहने लगा कि "यह मेरा हाथी, यह मेरा घोड़ा, यह मेरे सिपाही...." कुछ देर तक विश्राम करके लश्कर आगे बढ़ने लगा; तब पागल कहता है कि—"अरे, तुम मेरी आज्ञा के बिना कहाँ जाते हो?" किन्तु भाई! वह सब तो उसके अपने कारण से आया था और अपने ही कारण से जा रहा है। न तो तेरे कारण कोई आया था और न तेरे लिये कोई रुक सकता है; तू तो व्यर्थ का अभिमान करता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पर को अपना मानकर पागल मनुष्य की भाँति उसका अभिमान करता है—शरीर मेरा, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ; इसप्रकार अज्ञान से मानता है। शरीरादि परवस्तुओं का संयोग-वियोग तो उनके अपने कारण से होता है, उसे जानने से अज्ञानी जीव व्यर्थ का अभिमान करता है। किन्तु भाई! तू तो ज्ञान है; पदार्थ को जानने का तेरा स्वभाव है, किन्तु परवस्तु को प्राप्त करने या उसे पृथक् करने की शक्ति तुझमें नहीं है। तेरा प्यारा पुत्र मर रहा हो, उसे बचाने की तीव्र इच्छा हो, तथापि तू उसे नहीं बचा सकता; इससे सिद्ध हो जाता है कि दूसरे को बचाने की शक्ति तुझमें नहीं है, जीव की इच्छा होती है, किन्तु इस इच्छाधीन पर का कार्य नहीं होता; और इच्छा हुई, वह भी वास्तव में जीव का स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव तो जानने का है;—ऐसे ज्ञातास्वभाव को पहिचानकर उसकी प्रतीति करना चाहे तो हो सकती है, इसलिये चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति सरल है।

सधनता हो या निर्धनता हो;—उसे जीव जानता है, किन्तु निर्धनता के समय सधनता ला

दे—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है। सधनता के समय निर्धनता का ज्ञान हो सकता है और निर्धनता के समय सधनता का ज्ञान हो सकता है; दोनों का ज्ञान एक साथ भी हो सकता है; किन्तु उन दशाओं को जीव इकट्ठा नहीं कर सकता। निर्धनता कोई दोष नहीं है, किन्तु 'मैं निर्धन हूँ'—ऐसी हीन बुद्धि होना, वह दोष है। ''मैं तो ज्ञान हूँ, संयोग मेरा नहीं है, मैं तो संयोग का ज्ञाता ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ''—ऐसा अन्तरभान करना, वह प्रथम धर्म है।

(—चूड़ा ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८०, वैशाख शुक्ला ८)

धर्म की दुर्लभता

पुण्य-पाप की बात जीवों को सुलभ लगती है, किन्तु पुण्य-पाप के उस पार कोई वस्तु है-यह बात अनादिकाल से जीवों को लक्ष में नहीं आई। पुण्य-पाप से पार ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति पूर्व अनन्तकाल में जीवों ने एक क्षण भी नहीं की, इसलिये वह दुर्लभ है।

यह निश्चय पंचाशत अधिकार है। इसमें आत्मा के परमार्थस्वरूप का वर्णन है। अनन्तकाल में जीव क्या नहीं समझा—उसकी यह बात है। जीव ने अनन्तकाल से दूसरा सब कुछ सुना है और अनुभव किया है किन्तु आत्मा का वास्तविक चिदानन्दस्वरूप क्या है, यह कभी सुना भी नहीं है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि—

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः॥

आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि के सिवा जीवों को अन्य सब सुलभ है। शुद्धात्मा को

भूलकर विषय-कषाय की बात तो जीवों ने अनन्तबार सुनी है और उसका अनुभव किया है, किन्तु वह तो संसार का कारण है। शुद्धात्मा की उपलब्धि—जो कि मोक्ष का कारण है—वही जीवों को दुर्लभ है।

पुण्य-पाप की बात जीव ने पहले सुनी है और उसका अभ्यास भी अनादि से किया है, किन्तु पुण्य-पाप से पार चिदानन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, वह कभी लक्ष में नहीं लिया, इसलिये वह दुर्लभ है। लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो, स्वर्ग कैसे प्राप्त हो ?—ऐसी बंधकथा जीवों ने अनादि से सुनी है, किन्तु मेरा स्वरूप पुण्य-पाप रहित निर्दोष चिदानन्द है—ऐसी अबन्ध आत्मा की बात यथार्थ लक्षपूर्वक कभी नहीं सुनी। लक्ष्मी आदि मिले, वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि पूर्वकाल में धर्म किया होगा, उसका यह फल है। किन्तु भाई! यह धर्म का फल नहीं है, लक्ष्मी आदि सामग्री प्राप्त हो, वह तो पूर्व पुण्य का फल है, और धर्म तो अलग वस्तु है। पुण्य और धर्म दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं।—यह बात जीवों के लक्ष में नहीं आती। पुण्य की रुचि जीव को अनादिकाल से है; इसलिये पुण्य की बात तो अनादि से सुनी है, इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य तो राग है, उस राग से पार आत्मा का परमार्थस्वरूप क्या है, उसकी रुचि जीव ने कभी नहीं की, और उसका श्रवण भी जीवों को दुर्लभ है। आत्मा को जिससे बंधन हो, ऐसी बात जीव ने पहले अनंतबार सुनी है—अनुभव भी किया है; किन्तु जिसके अनुभव से मुक्ति हो, ऐसी शुद्धात्मा की बात जीव ने न तो पहले कभी सुनी है और न उसका अनुभव किया है। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनमें आकुलता है—दुःख है, और उनसे रहित आत्मा का स्वरूप शुद्ध सिद्ध समान है;—ऐसे आत्मा को लक्ष में लेना अपूर्व है। समयसार की चौथी गाथा में जो बात की है, वही यहाँ छठवें श्लोक में कहते हैं।

देखो आज यहाँ जिन मन्दिर में भगवान की प्रतिष्ठा का मंगल दिवस है और इस श्लोक में शुद्ध आत्मा की अलौकिक बात आई है। आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप क्या है, उसे भूलकर पुण्य-पाप की बात जीव ने पहले अनंतबार सुनी है, किन्तु अन्तर में देह से भिन्न और पुण्य-पाप से पार ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ—ऐसा सम्यक् भान करे तो धर्म हो।

शरीर तो जड़ है, आत्मा उससे भिन्न वस्तु है। हाथी का शरीर बहुत बड़ा है, तथापि उसकी बुद्धि कम है और मनुष्य का शरीर छोटा होने पर भी बुद्धि अधिक होती है—ऐसा दिखाई देता है। यदि शरीर और आत्मा एक हों तो बड़े शरीरवाले को अधिक बुद्धि होना चाहिए और छोटे शरीरवाले को कम; किन्तु ऐसा मेल दिखाई नहीं देता। इसलिये भगवान आत्मा, देह से पार

ज्ञानानन्दस्वरूप है और पुण्य-पाप भी उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। चैतन्यतत्त्व, देह-मन-वाणी से पार है, राग से भी पार है।—ऐसे चैतन्यतत्त्व की कहानी जीव ने रुचिपूर्वक नहीं सुनी। पुण्य अनंतबार किये और स्वर्ग में भी अनन्तबार गया; किन्तु ज्ञानतत्त्व के लक्ष बिना आत्मा की शांति किंचित् भी नहीं मिली। बाह्य संयोग, जीव को किंचित् सुख-दुःख नहीं देते। संयोग से पार सिद्ध समान आत्मा अन्तर में है, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति करेगा तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव भी होगा।—इसके अतिरिक्त शुभराग हो तो वह कहीं तेरे सुख का उपाय नहीं है। धर्मी को शुभराग होता अवश्य है; भगवान की भक्ति-पूजा-प्रभावनादि का भाव होता है, किन्तु वहाँ धर्मी जानता है कि यह राग मेरे धर्म का साधन नहीं है। पहले सच्ची श्रद्धा करना चाहिए। जो जीव, आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझे, उसे समझानेवाले देव-गुरु के प्रति प्रमोद और भक्ति की उमंग आये बिना नहीं रहती। पहले शुद्ध आत्मा को कभी लक्ष में नहीं लिया; इसलिये वास्तव में उसकी बात सुनी ही नहीं है—ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। पुण्य करके अनंतबार स्वर्ग में गया किन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वह पुण्य-पाप से पार है, उसे एक क्षण भी रुचि में नहीं लिया। जिस प्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चरपराहट भरी है, और चने के प्रत्येक दाने में मिठास भरी है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के स्वभाव में सर्वज्ञता और परिपूर्ण आनन्द का सामर्थ्य भरा है।—ऐसे आत्मा की एकबार भी प्रतीति करे तो अपूर्व सम्यग्दर्शन हो।

जिस प्रकार पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े हो जायें तो फिर वह जुड़ नहीं सकता; उसी प्रकार आत्मा का यथार्थ भान करके एक क्षण भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसके अनंत भवों का नाश हो जाता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है; फिर से पुनः अवतार धारण नहीं करना पड़ता। अहो! सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है, वह बात जीवों के लक्ष में भी नहीं आई। सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ अन्तर में सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है; आत्मा में से शांति की अपूर्व डकारें आती हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना शुभभाव करके पुण्यबंध करे, किन्तु धर्म नहीं होता—पुण्य के परिणामों से आत्मा के गुण जलते हैं। उस पुण्य के फल में लक्ष्मी आदि की प्राप्ति हुई है; उस लक्ष्मी को जो जीव, पाप में ही खर्च करता है किन्तु भगवान की भक्ति-धर्म-प्रभावनादि शुभकार्यों में खर्च करने का भाव नहीं करता,—ऐसे जीव के लिये कौए का दृष्टान्त देकर पद्मनन्दि पंचविंशतिका में समझाते हैं कि—अरे भाई! अगर कौए को जली हुई खिचड़ी मिल

जाये तो वह भी ''काँव... काँव...'' करके दूसरे कौओं को इकट्ठा करता है; तब फिर पूर्वकाल में तेरे गुणों के जलने से तुझे पुण्य हुआ है, और उस पुण्य के फल में तुझे यह लक्ष्मी का संयोग मिला; और अब उसे किन्हीं दया-दानादि के कार्यों में न लगाकर अकेले पापभाव ही करेगा तो तू कौए से भी गया बीता!!—ऐसा शुभराग का उपदेश भी शास्त्रों में आता है; वहाँ पापों से छुड़ाने के लिये वह उपदेश है; किन्तु उसका यह आशय नहीं है कि वह पुण्यभाव करने से तुझे धर्म हो जायेगा। मुक्ति तो आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की प्रतीति और एकाग्रता से ही होती है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा और पहिचान बिना शुभराग करके उसे सामायिक तथा प्रतिक्रमणरूप धर्म माने, वह भ्रमणा है।

भाई! आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप, राग से पार है; उसका सम्यक् भान करने के पश्चात् उसमें एकाग्रता होने से राग दूर हो जाता है;—उसका नाम सामायिक और प्रतिक्रमणरूप धर्म है। अभी तो यह अनादि के मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण कैसे हो, उसकी बात है। पहले आत्मा का सम्यग्ज्ञान करके मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करे, उसके बिना धर्म का प्रारम्भ कभी नहीं होता। पुण्य और पाप के उस पार कोई वस्तु है—यह बात अनादिकाल से जीवों के लक्ष में नहीं आई है। बाह्य में शरीर की क्रिया होती है, वह तो जड़ है, उसमें तो धर्म नहीं है और अन्तर में शुभपरिणाम होते हैं, वह भी धर्म का कारण नहीं है और अन्तर में मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप देह से और पुण्य से पार है, उसके सन्मुख होकर सम्यक् प्रतीति करना, वह प्रथम धर्म है। ऐसे धर्म का भान होने पर भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के भगवान की भक्ति, पूजा, प्रतिष्ठादि का भाव आता है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकररूप से विराजमान हैं; वहाँ लाखों केवली भगवान और संत विराज रहे हैं, अनेक सम्यक्त्वी जीव भी हैं; इन्द्र आकर समवशरण में भगवान की भक्ति करते हैं। इन्द्र सम्यक्त्वी हैं, आत्मा का भान है और एकावतारी हैं; किन्तु जब तीर्थंकर भगवान का जन्म होता है, तब वे भगवान को अपने हाथों में लेकर, उनके दिव्यरूप को भक्तिपूर्वक एक हजार नेत्र बनाकर देखते हैं और कहते हैं कि अहो! यह अवतार भगवान होने के लिये है, यह चरम शरीरी अवतार है; भगवान इसी अवतार में आत्मा के पूर्णानन्द की साधना करके जन्म-मरण का नाश करेंगे;—ऐसा भक्तिभाव इन्द्र को भी आता है और भक्ति से भगवान के निकट थिरक-थिरक कर नृत्य करते हैं; किन्तु उस समय भी अन्तर में भान है कि मेरा चिदानन्दस्वरूप इस राग से पार है; उसी के अवलम्बन से मेरी मुक्ति है। सर्वज्ञ भगवान और सच्चे गुरु के प्रति जिन्हें भक्ति और बहुमान का

भाव न आये, वह तो स्वच्छन्द में पड़े हैं; और ऐसे शुभभाव को ही धर्म मानकर उसी में रुक जायें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वरूप राग से पार है; उस ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना, वह अपूर्व धर्म है। ऐसी प्रतीति जीव ने पूर्व अनन्तकाल में एक क्षण भी नहीं की, इसलिये वह दुर्लभ है। सत्समागम से यथार्थ श्रवण-मनन करके, आत्मा के शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप की अपूर्व पहिचान और प्रतीति करना वह धर्म है।

(— राणपुर में वेदी-प्रतिष्ठा प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन। वीर सं. २४८० वैशाख शुक्ला १३)

सम्यक्त्वी का पुरुषार्थ

जिसने सम्यग्दर्शन करने का—जो पूर्वकाल में कभी नहीं किया ऐसा अपूर्व—सम्यक् पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, और इस प्रकार संपूर्ण स्वरूप का साधक हुआ है—वह जीव किसी भी संयोग में भय से, लज्जा से, लालच से या किसी भी कारण से असत् की पुष्टि नहीं करेगा। चाहे जैसी प्रतिकूलता आ जाये, तथापि सत् की श्रद्धा से च्युत नहीं होगा और असत् का आदर नहीं करेगा।—इस प्रकार स्वरूप के साधक सम्यक्त्वी निःशंक और निडर होते हैं, अपने सत् स्वभाव की श्रद्धा के बल से उन्हें जगत में कोई प्रतिकूलता है ही नहीं।

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	२)
श्री मुक्तिमार्ग	।।=)	समयसार सटीक	१०)
श्री अनुभवप्रकाश	।।)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	।।।)		
समयसार प्रवचन भाग २	५।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।।)	अध्यात्म पाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समयसार पद्यानुवाद	।)
अष्टपाहुड़	६)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)॥)
चिद्विलास	१=)	स्तोत्रत्रयी	।।)
आत्मावलोकन	१)	आत्मधर्म-मासिक लवाजम-	३)
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण	१।=)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १-२-३	
दसलक्षणधर्म	।।।)	५-६-७-८-१०	३।।।)
जैन बालपोथी	।)		पंचमेरु

卐

हिन्दी आत्मधर्म की फाईलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाईलें एक साथ लेनेवालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी